सरकार की दोषपूर्ण राह बनाम शिक्षा कार्यक्रमों का पथ : डीपीईपी और एसएसए से मिली सीख

रश्मि शर्मा



भारत में ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) और इसके बाद सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) प्रारम्भिक शिक्षा के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम रहे हैं। डीपीईपी का उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाना था, जबकि एसएसए का लक्ष्य प्रारम्भिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाना था। दोनों ने शिक्षा में जेंडर और सामाजिक असमानताओं को कम करने तथा सीखने के स्तर में सुधार करने की कोशिश की। जैसे-जैसे ये कार्यक्रम आगे बढ़े, वे न केवल नीति को लागू करने में, बल्कि उसे बनाने और संस्थागत ढाँचे को बदलने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण थे। डीपीईपी और एसएसए के अन्तर्गत नए स्कूल और सहायक संस्थान स्थापित किए गए, शिक्षकों के सम्बन्ध में नई नीतियाँ विकसित हुईं और शैक्षणिक अभ्यास यानी पाठ्यपुस्तकें, शिक्षण पद्धति, विद्यार्थी मूल्यांकन आदि प्रभावित हुए।

एक भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी के रूप में, मुझे डीपीईपी और एसएसए में काम करने में ख़ुशी हुई क्योंकि मुझे प्रारम्भिक शिक्षा में गहरी दिलचस्पी थी। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि इस अनुभव ने मेरे भीतर मेरे मूल कार्य, अर्थात सरकार के कार्य, में नए सिरे से दिलचस्पी पैदा की। जब मैंने पाठ्यपुस्तक लेखन, शिक्षक प्रशिक्षण, विद्यार्थी मूल्यांकन जैसे शैक्षणिक मुद्दों पर सरकार के भीतर और बाहर के सहयोगियों के साथ मिलकर कार्य किया तो विभिन्न ग़ैर-शैक्षणिक 'घटनाएँ' हुईं, जिन्होंने शिक्षण और अधिगम के बारे में हमारे सरोकारों को धूमिल कर दिया और हमारे प्रयासों को एक अप्रत्याशित दिशा में ले गईं। यह बात मेरे सामने स्पष्ट हो गई कि प्रारम्भिक शिक्षा की गुणवत्ता सरकार के काम करने के तरीक़े पर उतना ही निर्भर करती है जितना कि पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकों और शिक्षक प्रशिक्षण की गुणवत्ता पर और शिक्षा में सुधार के लिए सरकार का सुधार एक आवश्यक शर्त है।

डीपीईपी को 1991 के आर्थिक सुधारों के बाद 1994 में शुरू किया गया था। आर्थिक सुधार विदेशी मुद्रा के संकट के सन्दर्भ में किए गए थे, जिसके लिए सरकार ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) से आपातकालीन ऋण की माँग की थी। आईएमएफ की शर्तों के मुताबिक अर्थव्यवस्था को उदारीकृत किया जाना चाहिए था अर्थात उद्योगों के लिए लाइसेंस और कोटा भंग करना था और शुल्क बाधाओं को कम किया जाना था, साथ ही सरकारी व्यय को भी नियंत्रित करना था। इसका मतलब था प्रारम्भिक शिक्षा सहित सामाजिक क्षेत्र पर वित्तीय दबाव। नीति निर्माताओं को यह आशंका थी कि इस तरह की बजटीय कटौती से समाज के सबसे ग़रीब तबक़े को नुकसान होगा और शिक्षा के क्षेत्र में प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण को रोक दिया जाएगा, जिसे भारतीय संविधान के निर्देश सिद्धान्तों में अनिवार्य किया गया था। इसके अलावा, इस समय, भारत प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लिए कई अन्तरराष्ट्रीय समझौतों के लिए हस्ताक्षरकर्ता बन गया था। अतः सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के लिए बाहरी फंडिंग एजेंसियों जैसे यूरोपीय संघ, विश्व बैंक आदि से वित्तीय सहायता लेने का फैसला किया, जो कि पिछड़े ज़िलों में प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लिए एक बाहरी सहायता कार्यक्रम यानी डीपीईपी के रूप में सामने आया।

डीपीईपी उस समय के सरकारी कार्यक्रमों से कई मायनों में भिन्न था। यह विभागीय प्रशासन के बजाय एक परियोजना संरचना के माध्यम से लागू किया गया था। कार्यक्रम के प्रबन्धन के लिए परियोजना कार्यालयों को राज्य और ज़िला स्तर पर स्थापित किया गया था, जो सरकारी विभागों के कार्यालयों से अलग थे। यह निर्णय दो कारकों से प्रेरित था। व्यावहारिक कारण यह था कि डीपीईपी को विभिन्न बाहरी एजेंसियों द्वारा वित्तपोषित किया गया था और एक अलग परियोजना संरचना के कारण फंडिंग एजेंसियों द्वारा व्यय पर नज़र रखने का काम और परियोजना की निगरानी बेहतर तरीक़े से हो सकी। लेकिन दीर्घकालिक अर्थ में, अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह विश्वास था कि नियमित सरकारी कार्यालय और संस्थान डीपीईपी में परिकल्पित विकास कार्यों के लिए सक्षम नहीं थे। परियोजना के दृष्टिकोण के समर्थकों ने तर्क दिया कि शिक्षा का प्रशासनिक ढाँचा पूरी तरह से रोज़मर्रा की गतिविधियों में व्यस्त था जैसे कि वेतन का वितरण, परीक्षाओं का आयोजन, स्कूल का उदासीन निरीक्षण आदि। शैक्षिक संस्थानों में वास्तविक विशेषज्ञता और नवाचार की इच्छा का अभाव था। इसके विपरीत अच्छी गुणवत्ता वाली प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लिए समुदाय को प्रेरित करने की ज़रूरत थी ताकि जो बच्चे स्कूल नहीं जाते थे, उन्हें वापस स्कूल में लाया जा सके विशेष रूप से लड़कियों, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के बच्चों तथा विकलांग बच्चों को। इसके अलावा कक्षा को दिलचस्प और आकर्षक बनाना भी ज़रूरी था।

जब मैंने मध्य प्रदेश में राज्य शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद (एससीईआरटी) में निदेशक के रूप में कार्य करना शुरू किया तब पहली बार डीपीईपी से मेरा परिचय हुआ। मैंने स्पष्ट रूप से यह देखा कि ये समस्याएँ हमारे मौजूदा संस्थानों की वास्तविक समस्याएँ थीं। एससीईआरटी को इस प्रकार की नई पाठ्यपुस्तकें बनाने का काम दिया गया जो गतिविधि-आधारित अधिगम और शिक्षक प्रशिक्षण को बढ़ावा दें। वास्तव में, एससीईआरटी के पास इस प्रक्रिया का मार्गदर्शन करने वाला कोई नहीं था। एससीईआरटी ने पूर्व स्थापित अभ्यास के साथ बड़े असावधानीपूर्ण रूप से पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया, जो नीरस थीं, किसी भी विचार-आधारित शैक्षणिक रणनीति पर आधारित नहीं थीं और यहाँ तक कि उनमें मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी बहुत थीं! अतः अच्छी गुणवत्ता वाली, गतिविधि आधारित पाठ्यपुस्तकें बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया कि ग़ैर-सरकारी संगठनों और सरकारी क्षेत्र के बाहर वाले विशेषज्ञों के साथ गहराई से जुड़ा जाए। एससीईआरटी संकाय को, सुधार का नेतृत्व करने के बजाय, नए शैक्षणिक अभ्यासों में भाग लेने और रुकावट पैदा न करने के लिए मनाना पड़ा। हालाँकि संकाय के कुछ सदस्य इस कार्य में शामिल हुए और कड़ी मेहनत भी की लेकिन दूसरे लोग कार्य करने के लिए अनिच्छुक थे।

इस अनुभव से यह बात साफ़ हो गई कि राज्य सरकार ने एससीईआरटी को एक उत्कृष्ट संस्थान के रूप में विकसित करने पर कोई ध्यान नहीं दिया। एससीईआरटी में कार्यरत लोग आमतौर पर कॉलेज के शिक्षक थे। वे एससीईआरटी में इसलिए नहीं थे क्योंकि वे स्कूली शिक्षा में रुचि रखते थे या कोई विशेष दक्षता रखते थे, बल्कि इसलिए थे क्योंकि वे भोपाल में रहना चाहते थे और अपनी मनचाही तैनाती करवा पाने की स्थिति में थे। कुछ तो ऐसे थे जो किसी भी तरह के काम में रुचि नहीं दिखाते थे, कुछ लोग हमेशा की तरह नीरस पाठ्यपुस्तकों और शिक्षक प्रशिक्षण मॉड्यूल को बनाने का काम करके ख़ुश थे और कुछ लोग जो काम करने को तैयार थे उन्हें न तो नई जानकारी के अवसर मिल पाते थे और न ही प्रोत्साहन मिलता था। अब जब सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार करने का प्रयास किया तो उसे अपने इस संस्थान से बहुत कम मदद मिली। मानव संसाधन की यह समस्या न केवल एससीईआरटी में बल्कि पूरी प्रणाली में दिखाई दे रही थी। प्रशासनिक कार्यालयों में प्रशिक्षित शैक्षिक प्रशासकों की कमी थी और जेंडर, सामुदायिक जुटाव एवं विकलांग बच्चों की शिक्षा जैसे विषयों के विशेषज्ञों का भी अभाव था। प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लिए मूलतः एक अलग प्रकार की संस्थागत सहायता संरचना की आवश्यकता थी।

इस स्थिति को देखते हुए दो तरीक़े सम्भव थे। एक, सरकार मौजूदा संस्थानों में सुधार कर सकती थी। दो, एक ऐसी अलग परियोजना संरचना स्थापित करना जिसमें बेहतर विशेषज्ञता और काम करने के अच्छे तरीक़े हों। पहली सम्भावना पर कभी गम्भीरता से विचार ही नहीं किया गया। राजनीतिक ज़रूरतों के साथ-साथ फंडिंग एजेंसियों का दबाव था कि कार्य जल्दी हो, नए स्कूलों का निर्माण किया जाए, पाठ्यपुस्तकें बदली जाएँ, शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाए आदि। प्रणाली को बदलने में समय लगता। इसके अलावा ऐसा करना मुश्किल भी था। इसका मतलब यह भी था कि सही लोगों को सही स्थानों पर लाया जाए। नियमित संरचना में पसन्दीदा लोगों को अच्छे पदों पर रखा गया, जिसमें योग्यता पर कम ध्यान दिया गया और इस अभ्यास को बदलने का मतलब सत्ता के मौजूदा समीकरणों को गड़बड़ा देना था। इसका मतलब यह था कि आदेश और नियंत्रण शैली की बजाय सोच-विचार और लोकतांत्रिक तरीक़े से काम किया जाए जिससे सत्ता में रहने वाले प्रभावित होते। इन कठिनाइयों को देखते हुए डीपीईपी को एक परियोजना संरचना के माध्यम से लागू किया गया था।

परियोजना वाली रणनीति ने एक हद तक काम भी किया। कई गतिविधियाँ यानी नए स्कूल, बेहतर पाठ्यपुस्तकें, बड़े पैमाने पर शिक्षक-प्रशिक्षण, सामुदायिक जुटाव, स्कूल न आने वाले बच्चों के नामांकन आदि के लिए विभिन्न प्रकार की रणनीतियों का सहारा लिया गया।

ऐसा क्यों हुआ? नई परियोजना संरचना पुरानी सरकारी संरचनाओं की तुलना में अधिक जीवन्त क्यों थी? डीपीईपी के कर्मचारियों में जेंडर, वंचित समूहों के बच्चों, विकलांग बच्चों, सामुदायिक जुटाव आदि विषयों के विशेषज्ञ थे, जबकि नियमित सरकारी कार्यालयों और संस्थानों में ऐसे शिक्षक थे जिन्हें पदोन्नत किया गया था और अपने नए कार्यों को करने के लिए उन्हें दुबारा कोई प्रशिक्षण नहीं दिया गया था। डीपीईपी में, संरक्षक आधारित स्थानांतरण और तैनाती की प्रथाओं (जो नियमित प्रणाली की ख़ासियत थी) के विपरीत यथासम्भव सर्वोत्तम लोगों को भर्ती करने का प्रयास किया गया। दूसरे शब्दों में, डीपीईपी में मानव संसाधन प्रबन्धन में लोगों की तैनाती के लिए सरपरस्ती की बजाय योग्यता और आवश्यक विशेषज्ञता को ध्यान में रखा गया। ग़ैर-सरकारी संगठनों और संसाधकों के साथ निरन्तर जुड़ाव से इसे और समर्थन मिला ताकि सरकार के बाहर से भी विशेषज्ञता प्राप्त की जा सके।

भले ही डीपीईपी ने काम करने के नए तरीक़े अपनाए किन्तु नियमित विभागीय संरचना में इसी तरह के बदलाव लाने के लिए कोई प्रयास नहीं किए गए। वास्तव में विभागीय संरचना और कमज़ोर हो गई क्योंकि यह केवल बंधा-बंधाया काम करती रही जैसे कि वेतन का वितरण और परीक्षा आयोजित करना। नियमित विभागीय कार्यालयों में काम करने वाले

लोगों को नए विचारों के बारे में प्रशिक्षित या सूचित नहीं किया गया था और वे निरुत्साहित हो गए क्योंकि उन्हें लगा कि उन्हें नई पहलों से बाहर रखा गया है (और ऐसा किया भी गया था)। यह बहिष्करण ज़मीनी स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक दिखाई देता था। उनमें से कई लोग डीपीईपी पहलों की आलोचना करने लगे और परियोजना के लिए मुश्किलें पैदा करने लगे। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि मौजूदा प्रणाली में दीर्घकालिक परिवर्तन लाने का एक अवसर खो गया था। अब यह सोचना कि यदि परियोजना संरचना में विशेषज्ञों को काम पर रखने की पद्धति को नियमित विभागीय संरचना का हिस्सा बनाया जाता, योग्यता आधारित स्थानान्तरण और तैनाती को अनिवार्य बनाया जाता और पूरे विभागीय ढाँचे को पुनः प्रशिक्षित किया जाता तो क्या होता – यह एक काल्पनिक प्रश्न बना हुआ है।

जब 2000 में एसएसए ने डीपीईपी का स्थान लिया तो कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए। पहला, 2000 में जब एसएसए आरम्भ किया गया था तब भारतीय अर्थव्यवस्था तेज़ी से बढ़ने लगी थी और सरकारी राजस्व में काफ़ी वृद्धि हुई थी। इसका मतलब यह था कि सरकार सामाजिक क्षेत्र पर अधिक धनराशि खर्च कर सकती थी। अतः एसएसए बाहर से नहीं वरन केन्द्र सरकार द्वारा वित्तपोषित था, जिसमें राज्य सरकारें एक छोटा-सा हिस्सा देती थीं। बाद के वर्षों में एसएसए के लिए उपलब्ध धन और, इसके माध्यम से, प्रारम्भिक शिक्षा में निवेश तेज़ी से बढ़ा। हालाँकि कई नए स्कूल खोले गए हैं, स्कूल के बुनियादी ढाँचे में व्यापक सुधार हुआ है, और प्राथमिक शिक्षा में नामांकन क़रीब-क़रीब सार्वभौमिक हो गया है, फिर भी आज बच्चों के सीखने का स्तर असन्तोषजनक ही है, और धनी बच्चे निरन्तर निजी स्कूलों में भर्ती हो रहे हैं। भारी निवेश के बावजूद एक सुव्यवस्थित प्राथमिक शिक्षा प्रणाली अभी भी पहुँच से बाहर है। सरकारी कामकाज में लगातार ख़राबी के कारण डीपीईपी ने जवाबी कार्रवाई के लिए अल्पकालिक उपाय किए, लेकिन लम्बी अवधि के उपायों को सम्बोधित करने में विफल रहा। डीपीईपी ने संस्थागत कमियों के ख़िलाफ़ बचाव के जो प्रयत्न किए, एसएसए में उन्हें अधूरा ही छोड़ दिया गया था।

एक राष्ट्रीय कार्यक्रम होने के नाते एसएसए इस परियोजना संरचना को समाप्त कर सकता था। हालाँकि कार्यक्रम के समर्थकों ने डीपीईपी की परियोजना संरचना की आलोचना की लेकिन एसएसए में इसे बरकरार रखा गया। सिर्फ़ इसलिए कि पक्ष-विपक्ष और सम्भावनाओं पर गहराई से चर्चा नहीं की गई थी। वास्तव में डीपीईपी से प्राप्त सकारात्मक और नकारात्मक शिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों को अत्यधिक व्यक्तिवादी तरीक़े से तैयार किया जाता है। पिछले अनुभवों का किस हद तक और कितनी गहराई से विश्लेषण किया गया है और उससे क्या सीख मिली – ये सारी बातें बहुत परिवर्तनशील हैं। एसएसए को तैयार करते वक्त डीपीईपी परियोजना संरचनाओं के गुणों और कमज़ोरियों की बहुत कम जाँच-पड़ताल की गई। अन्त में वे एसएसए संरचना बन गए और जैसे-जैसे एसएसए डीपीईपी के ज़िलों से आगे बढ़ा, इसी तरह की संरचनाएँ नए ज़िलों में स्थापित की गईं। फिर एक बार, दीर्घकालिक संस्थागत समस्याओं को दूर करने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

साथ ही डीपीईपी संरचनाओं को प्रभावी बनाने वाले कई सकारात्मक अभ्यासों को छोड़ दिया गया। चूँकि एसएसए बाहरी रूप से नहीं वरन घरेलू रूप से वित्तपोषित कार्यक्रम था, इसलिए सरकार के भीतर लोगों की भर्ती और नौकरी पर लगाने की प्रक्रिया मौजूदा तरीक़ों के साथ अधिक तालमेल रखती थी। अतः समय के साथ-साथ योग्यता आधारित भर्ती और तैनाती, जो डीपीईपी की विशेषता थी, का स्थान संरक्षक आधारित तैनाती ने ले लिया। इसके अलावा डीपीईपी की तुलना में, एसएसए के अधिकारियों का प्रणाली के बाहर के विशेषज्ञों के साथ बहुत कम जुड़ाव था, इसलिए नए विचारों और तरीकों का प्रवाह भी अवरुद्ध हो गया। जैसा कि अन्य सरकारी कार्यक्रमों के साथ होता है, पूरा ध्यान बुनियादी ढाँचे के निर्माण पर केन्द्रित किया गया। परिणामस्वरूप जो जीवन्तता डीपीईपी की विशेषता थी, वह काफ़ी हद तक कहीं खो गई।

सच पूछा जाए तो डीपीईपी और एसएसए ने शिक्षकों की गुणवत्ता घटाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। डीपीईपी के साथ एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि 'पैरा' शिक्षक, संविदा कर्मचारी, नियुक्त किए जाने लगे जिनका वेतन बहुत कम था। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि कई राज्यों को प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लिए बड़ी संख्या में अतिरिक्त शिक्षकों की आवश्यकता थी, लेकिन अधिकांश राज्य सरकारों की वित्तीय स्थिति ख़राब थी। जैसे-जैसे प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने का दबाव बढ़ा, राज्यों ने शिक्षकों की लागत में कमी लाने का प्रयास किया ताकि वे अधिक शिक्षकों को काम पर रख सकें और पैरा-शिक्षक नियुक्त करने लगे। मध्य प्रदेश में, नियमित शिक्षकों को 'मृत संवर्ग' या 'डाइंग कैडर' घोषित किया गया था और रिटायर होने के बाद पैरा-शिक्षकों द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था। मध्य प्रदेश की 'शिक्षा गारंटी योजना' ने कम वेतन वाले, समुदाय के संविदा शिक्षकों की अवधारणा को आर्थिक तंगी के लिए एक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं बल्कि वांछनीय मानते हुए उसे बढ़ावा दिया और कई लोगों ने इसकी प्रशंसा भी की। सभी राज्यों ने मध्य प्रदेश की तरह पैरा-शिक्षकों को उत्साह के साथ तो नहीं अपनाया, लेकिन लगभग सभी ने कुछ पैरा-शिक्षकों को काम पर रखा।

पैरा-शिक्षकों की नियुक्ति एक बहुत ही विवादित मुद्दा था। इस विचार का समर्थन करने वालों ने तर्क दिया कि नियमित शिक्षक आत्म-सन्तुष्ट थे क्योंकि उनकी नौकरी स्थायी थी, वे अक्सर अनुपस्थित रहते थे, प्रतिबद्धता के साथ नहीं पढ़ाते थे और उन्हें अच्छा वेतन देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इस बात की सम्भावना अधिक थी कि समुदाय का एक अनुबन्धित, कम वेतन पाने वाला शिक्षक स्कूल के लिए प्रतिबद्ध हो। जो लोग पैरा-टीचर्स के ख़िलाफ़ थे, उनका तर्क था कि शिक्षकों को अधिक पेशेवर बनाने की ज़रूरत है। कम वेतन वाले, कम योग्यता वाले पैरा-शिक्षकों को नौकरी पर रखने का मतलब था सरकारी स्कूलों में जाने वाले ग़रीब बच्चों को हानि पहुँचाना। लेकिन इस सवाल पर भी शायद ही कभी तर्कसंगत रूप से बहस की गई हो। उदाहरण के लिए, इस तथ्य पर कम ध्यान दिया गया कि शिक्षकों का राजनीतिकरण, तैनाती में संरक्षण और अच्छे काम को मान्यता न देना आदि वेतन और स्थायित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दे हो सकते हैं। यही नहीं नीतियों को थोड़े-से विश्लेषण और चिन्तन के बाद अक्सर रातोंरात बदल दिया जाता था।

एसएसए ने शुरू में ही पैरा-शिक्षकों के लिए वेतन का भुगतान प्रदान करके मौन रूप से उनका समर्थन किया और पैरा शिक्षकों की नियुक्ति की संख्या में तेज़ी से वृद्धि हुई इस तथ्य के बावजूद कि जिस आर्थिक तंगी ने पैरा शिक्षकों की नियुक्ति को बढ़ावा दिया था वह अब थी ही नहीं। लेकिन, समय के साथ, पैरा शिक्षकों ने सुरक्षित रोज़गार और बेहतर वेतन के लिए यूनियनों का गठन किया। इसके बाद, राज्य सरकारों को कई रियायतें देनी पड़ीं जैसे पैरा-शिक्षकों की तनख़्वाह बढ़ाना और कार्यकाल को अधिक सुरक्षित बनाना। इसका मतलब यह था कि सबसे ख़राब तरीक़े को अपनाना : कम-वेतन वाली संविदात्मक नौकरियों को विज्ञापित किए जाने पर कम योग्य लोगों को शिक्षक के रूप में काम पर रखा गया। लेकिन उनके वेतन में वृद्धि करनी पड़ी, कार्य-निष्पादन के आधार पर नहीं, बल्कि उनके आन्दोलन की सफलता के कारण। कई पैरा-शिक्षक भी अर्ध-स्थायी हो गए और इसका परिणाम यह हुआ कि ख़राब कार्य-निष्पादन के कारण शिक्षक को हटाने का पूरा विचार निरर्थक हो गया। इसके अलावा, शिक्षकों से सम्बन्धित नीतियों में लगातार बदलाव आता रहा और स्कूल प्रणाली अब ऐसे शिक्षकों की बड़ी संख्या के साथ काम करती रही जो असन्तुष्ट थे और अक्सर आन्दोलन करते रहते थे।

चूँकि संस्थाओं में मूलतः कोई बदलाव नहीं आया इसलिए अन्य क्षेत्रों में भी असफलताएँ मिलीं। उदाहरण के लिए डीपीईपी ने सन्दर्भ-विशिष्ट, विकेन्द्रीकृत योजना को बढ़ावा दिया और प्रत्येक वर्ष प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लक्ष्य के साथ ज़िला स्तर की योजनाएँ तैयार की गईं। डीपीईपी कार्यक्रम के दिशा-निर्देश बहुत कम थे, केवल इस बारे में कुछ निर्देश थे कि 'क्या करें और क्या नहीं' क्योंकि प्रत्येक ज़िले से यह अपेक्षा की गई थी कि वे अपनी स्वयं की समस्याओं के सन्दर्भ में अपनी रणनीति तैयार करें। उदाहरण के लिए - स्कूल न जाने वाले बच्चों के नामांकन के लिए विविध तरीक़े अपनाए जा सकते थे जैसे समुदाय को मुद्दे से जोड़ने और उन्हें संवेदनशील बनाना या वैकल्पिक शिक्षा केन्द्र शुरू करना या एक ब्रिज कोर्स शुरू करना ताकि बच्चे औपचारिक स्कूलों में शामिल हो सकें आदि। यह बात सामान्य सरकारी योजनाओं के विपरीत थी जहाँ रणनीतियाँ पहले से तय होती थीं। उदाहरण के लिए डीपीईपी से पहले ग़ैर-औपचारिक शिक्षा (एनएफई) की योजना ने स्कूल न जाने वाले बच्चों के नामांकन के लिए एक एकल रणनीति निर्धारित की और निर्धारित लागत के साथ ग़ैर-औपचारिक शिक्षा केन्द्र शुरू किए। इस बात को ध्यान में रखा गया कि कुछ मामलों में बच्चों को स्कूलों में भेजने के लिए समुदाय को जुटाना या बड़े भाई-बहनों को स्कूल जाने की स्वतंत्रता देने के लिए शिशुओं की देखरेख की सुविधा प्रदान करना बेहतर रणनीति हो सकती है।

चूँकि डीपीईपी में हर साल ज़िला योजना तैयार की जाती थी, इसलिए उन पर सभी स्तरों पर गहराई से चर्चा की जाती और उनका विश्लेषण किया जाता था। स्कूल न जाने वाले बच्चों को दाख़िला देने के लिए कई नई रणनीतियाँ सामने आईं। हालाँकि शुरू से ही प्रवृत्ति यही थी कि राज्य स्तर पर निर्णय लिए जाएँ ताकि किसी राज्य विशेष की सभी ज़िला योजनाएँ समान दिखें। ऐसा दो कारणों से हुआ। एक तो ज़िला स्तर पर क्षमता की कमी थी। ज़िला कार्यालयों में स्टाफ सीमित था। इसके अलावा, ज़िले के अधिकारी योजना बनाने के आदी नहीं थे और अक्सर वे बहुत अच्छी योजनाएँ नहीं बनाते थे। ऐसे मामलों में राज्य के अधिकारियों ने हस्तक्षेप किया। दूसरे, सरकारी विभाग आमतौर पर इस प्रकार कार्य करते थे : राज्य के अधिकारी ज़िला अधिकारियों को निर्देश देते थे। इसलिए राज्य के साथ-साथ ज़िला स्तर के अधिकारियों के लिए भी ये भूमिकाएँ बड़ी आरामदेह थीं। हालाँकि, इस परियोजना में विकेन्द्रीकृत योजनाएँ बनाने के लिए लगातार दबाव बना रहा और इसके कारण कम-से-कम कुछ सन्दर्भ -आधारित योजनाएँ और रणनीतियाँ बनीं।

एसएसए ने विकेन्द्रीकृत ज़िला स्तर की योजना को बनाए रखा और वास्तव में ग्रामीण स्तर की योजना को बढ़ावा देने की माँग की। लेकिन व्यवहार में, एसएसए का नियोजन और भी अधिक ऊपर से संचालित हो गया। पहली बात तो यह कि एसएसए के दिशानिर्देश डीपीईपी दिशानिर्देशों से बहुत अलग थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, डीपीईपी के दिशानिर्देश विशिष्ट गतिविधियों के बारे में नहीं बताते या निश्चित इकाई लागतों को निर्धारित नहीं करते जो लचीलेपन के लिए

सहायक हैं। एसएसए दिशानिर्देशों में ये दोनों बातें शामिल थीं क्योंकि यह सामान्य सरकारी अभ्यास था और वित्त विभागों ने इस पर ज़ोर दिया। एसएसए सामान्य सरकारी कार्यक्रमों की तुलना में अधिक लचीला था और वह इस अर्थ में कि इसने व्यापक गतिविधियों की अनुमति दी और साथ ही ज़िलों को इस बात की अनुमति दी कि वे इन गतिविधियों में से चयन कर लें। चूँकि गतिविधियों और इकाई लागतों को पहले से ही निर्धारित कर दिया गया था, इसलिए ज़िला योजनाओं ने बस इन गतिविधियों को दोहराया और संख्याएँ दे दीं। एसएसए पर नियमित सरकारी प्रणाली का अधिक नियंत्रण होने के कारण टॉप-डाउन अभ्यास और मज़बूत हो गए।

इसी तरह डीपीईपी में किए गए गम्भीर शैक्षणिक सुधारों को भी नुकसान पहुँचा। कई राज्यों में, डीपीईपी के तहत नई, गतिविधि-आधारित पाठ्यपुस्तकें तैयार की गईं। लेकिन यह एक कठिन संघर्ष था। कभी-कभी नई पाठ्यपुस्तकों की कड़ी आलोचना भी हुई क्योंकि उनमें अधिगम के नए और अपरिचित तरीक़े पेश किए गए थे। जब शिक्षकों को गतिविधि-आधारित अधिगम के लिए प्रशिक्षित किया गया तो उन्हें भी अवधारणाओं को समझने में कठिनाई हुई। चूँकि एससीईआरटी संकाय और शिक्षा विभागों की क्षमता का पर्याप्त रूप से विकास नहीं किया गया था इसलिए कई अधिकारी और अध्यापक-शिक्षक इन बदलावों के विरोधी थे। अक्सर जब सरकारें या नौकरशाह प्रभारी बदलते थे तो नई पाठ्यपुस्तकों को त्याग दिया जाता था। एसएसए में शिक्षा और शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान देना और भी कम हो गया क्योंकि नियमित प्रशासकों और अध्यापक-शिक्षकों से पदों को तेज़ी से भरा गया और सरकार के बाहर वाले विशेषज्ञों के साथ परामर्श लेना भी कम हो गया। जो शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम कभी बहुत ध्यानपूर्वक और प्रतिबद्धता के साथ आयोजित किए जाते थे वे एक बंधे-बंधाए काम और यहाँ तक कि भ्रष्टाचार का स्रोत भी बन गए। अन्ततः एसएसए का ध्यान नए स्कूलों की स्थापना, बुनियादी ढाँचे का निर्माण, नए शिक्षकों को काम पर रखने और विद्यार्थियों को मुफ़्त पाठ्यपुस्तकें, वर्दी आदि प्रदान करने पर केन्द्रित हो गया। ये काम भी महत्त्वपूर्ण थे, लेकिन चूँकि कक्षा की प्रक्रिया में सुधार नहीं हुआ इसलिए उच्च-गुणवत्ता वाली स्कूल प्रणाली भी समझ से बाहर ही रही।

मेरे हिसाब से डीपीईपी और एसएसए से सीखा जाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण सबक़ सरकारी कामकाज के बारे में है। सरकार में मानव संसाधन और कार्यशैली से सम्बन्धित गहरी समस्याएँ हैं। मानव संसाधन की संरचना ही समस्याग्रस्त है। कई क्षेत्रों में आवश्यक विशेषज्ञता की कमी है। इसके अलावा, मौजूदा मानव संसाधनों का प्रबन्धन योग्यता पर आधारित नहीं है। किसी अधिकारी को योग्यता के आधार पर भर्ती किया जा सकता है, लेकिन इस बात की सम्भावना भी है कि वह अपने करियर के दौरान, तैनाती और यहाँ तक कि पदोन्नति के लिए अपने काम को अच्छी तरह से करने की बजाय किसी शक्तिशाली गॉडफादर की ख़ुशामद करे, उसका सहारा ले। इससे काम के प्रति प्रतिबद्धता कम होगी क्योंकि प्रोत्साहन की मौजूदा संरचना अच्छे काम को बढ़ावा नहीं देती है। काम करने की प्रक्रिया पदानुक्रम और केन्द्रीकरण पर आधारित है और ज़मीनी आवश्यकताओं के अनुकूल रणनीतियों को उभरने से रोकती है। सरकार के सबसे शीर्ष स्तरों पर भी विचार-विमर्श और विवेचना करना एक विकल्प ही है। परिणाम स्वरूप वे कार्यक्रम और नीतियाँ अपरीक्षित ही रह जाती हैं जिन पर भली-भाँति विचार नहीं किया गया हो, ख़ासकर यदि उनसे कोई राजनीतिक लाभ मिलता हो। यहाँ तक कि बेहतर रूप से तैयार किए गए कार्यक्रमों को भी महत्त्व नहीं दिया जाता क्योंकि वे संस्थागत संरचनाओं के माध्यम से क्रियान्वित किए जाते हैं जिसमें तकनीकी क्षमता का अभाव होता है और जो एक कठोर और पदानुक्रमित तरीक़े से कार्य करते हैं।

ये लक्षण हर सरकारी पहल को प्रभावित करते हैं। सभी कार्यक्रमों को इस साँचे में रूपान्तरित और ढाला गया है। डीपीईपी ने परियोजना संरचनाओं को बनाकर इन समस्याओं से निपटने का प्रयास किया लेकिन मौजूदा संस्थागत दोषों को सम्बोधित करने में विफल रहा और सम्भवतः उन्हें बढ़ा दिया। एसएसए उन्हें साथ लेकर चला और डीपीईपी के परियोजना से प्राप्त लाभों को समाप्त कर दिया।

सबक़ साफ़ है। आज बढ़ते सरकारी राजस्व ने अच्छी गुणवत्ता वाली प्रारम्भिक शिक्षा को काफ़ी हद तक एक वास्तविक सम्भावना बना दिया है। लेकिन सरकार के काम करने का तरीक़ा एक बहुत बड़ी बाधा है। जब तक गहन और वास्तविक संस्थागत सुधार नहीं होगा, एक वास्तविक उच्च गुणवत्ता वाली स्कूल प्रणाली के निर्माण की सफलता दूर ही रहेगी।

रश्मि शर्मा पूर्व भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी हैं। उन्होंने भारत में प्राथमिक शिक्षा और स्थानीय स्वशासन के क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर काम किया है। उनकी दो पुस्तकें- 'लोकल गवर्नमेंट इन इंडिया : पॉलिसी एंड प्रैक्टिस' तथा 'दि एलिमेंटरी एजुकेशन सिस्टम इन इंडिया' प्रकाशित भी हुई हैं। सम्प्रति वे ज़मीनी स्तर पर सरकार की संरचना और काम के बारे में शोध और लेखन में लगी हुई है। उनसे *rashmishuklasharma@gmail.com* पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल